'नव-औपनिवेशिकता एवं हिन्दी-आदिवासी उपन्यास'

* योगेन्द्र कुमार सिंह

उपन्यास मध्यवर्गीय जीवन का महाकाव्य ही नहीं रहा, बल्कि वह उपेक्षितो के स्वप्न, संघर्ष एवं यातना का जीवन वृत्त भी है, जो एक ओर मुक्ति की बेचैनी देता है तो दूसरी ओर नये रास्तो की तलाश भी करता है। शायद इसीलिए हीगेल ने उपन्यास को आधुनिक जीवन का महाकाव्य माना है। वस्तुतः साहित्य और समाज के संबंध देश–देशांतर के अनुरूप बदलते रहते हैं, यही कारण है कि 1857 की क्रांति के बाद प्रचलित हुई उपन्यास विधा, औपनिवेशिकता, उत्तर–औपनिवेशिकता एवं नव–औपनिवेशिकता के राजनैतिक, सामजिक और आर्थिक पड़ावों के साथ अलग–अलग चिंतन दृष्टियों को सामने लाती रही है। जहाँ शुरूआती दौर के ऐयारी और तिलिस्मी उपन्यास उपनिवेशवाद के विरोध का रूपक गढ़ते हैं[1] वहीं द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के उपन्यास आजाद हुए तमाम उपनिवेशों की स्थितियो का ब्योरा देते हुए[2] नव–उपनिवेशवादी साजिशों भूमण्डलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण का पर्दाफाश करते हैं। भारतीय समाज के संदर्भ में उपन्यास उपनिवेश, सामंत और जन से शुरू होकर पूँजीवाद, लोकतंत्र और भीड़ से होते हुए नव–औपनिवेशिकता, भूमण्डलीकरण और उपभोक्ता के अंतः संबंधों की व्याख्या करता है। भारतीयता (परिस्थितियाँ, पाठक और देशकाल) और हिन्दी उपन्यास के रिश्तों की समझ के लिए 'मैनेजर पाण्डेय' ने लिखा है– ''उपन्यास के उदय और विकास के लिए अर्थात उसके अस्तित्व के लिए कुछ ऐसे भौतिक और विचारधारात्मक आधारों की जरूरत थी, जो आधुनिक युग में ही विकसित हुए। उपन्यास के अस्तित्व के लिए अनिवार्य प्रेस, प्रकाशन और पत्र–पत्रिका आधुनिक युग के वैज्ञानिक विकास की देन है तो उसके लेखक और पाठक के रूप में क्रियाशील मध्यवर्ग पूँजीवादी सामाजिक संरचना का परिणाम है। इन भौतिक आधारों के साथ–साथ विचारधारा के स्तर पर व्यक्तिवाद,

* शोध छात्र, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

धर्मनिरपेक्ष जीवन दृष्टि और यथार्थवादी जीवन दृष्टि की जरूरत थी जो आधुनिक युग की विवेकवादी चेतना की उपज है। उपन्यास की रचना दृष्टि में मनुष्य की स्वतंत्रता, व्यक्ति की महत्ता और मानवीय संबंधो की गरिमा को तभी केन्द्रीय महत्व मिला, जब आधुनिक मानस अपने अनुभव और तर्क के अलावा किसी अलौकिक शक्ति की सत्ता को स्वीकार करने के लिए तैयार न था।''[3]

उपन्यास वस्तुतः मध्ययुगीनता के विरूद्ध आधुनिकता की अभिव्यक्ति के रूप में मनुष्य की स्वतंत्रता, व्यक्ति की महत्ता और मानवीय संबंधों की गरिमा के विरोध में खड़ी शक्तियों का प्रतिपक्ष है। आदिवासियों का संपूर्ण साहित्य इस प्रतिपक्ष की भूमिका में पूरी जवाबदेही के साथ लैस है, उपन्यास के साथ–साथ विभिन्न साहित्यिक विधाओं में उसकी गति है। रमणिका गुप्ता ने आदिवासी साहित्य की भूमिका को इस प्रकार स्पष्ट किया है कि, '........ अदिवासियों में समकालीन लोक गीतों–लोक कथाओं, लिजिंद्रियों, वीर गाथाओं, पर्वों, त्योहारों के गीतों और अनुष्ठानों की महान परम्परा है, जिसमें उनका ही नहीं, बल्कि पृथ्वी का इतिहास भी दिया है..... आदिवासी लेखक अपने समकालीन जीवन के सत्य पर, इनसब समस्याओं पर प्रश्न पूंछ रहा है– उत्तर पूछ रहा है– समाधान सुझा रहा है।..... उनकी कलम बिरसा के उलगुलान पर, झारखंड के जंगलों मे अंग्रेजों के खिलाफ हुए संथाल विद्रोह पर, सिद्दो–कानू को दी गई फांसी पर सतत चल रही है।''[4] प्रस्तुत संदर्भ आदिवासियों के साहित्य की गरिमा और विस्तार का ही ब्यौरा नहीं बल्कि उपनिवेशवाद के प्रतिरोध अत्याचार और यातना का भी संकेत है। आदिवासी लेखन में समकालीन चिंताओं की यह प्रवृत्ति बदली स्थितियों के साथ भी लक्षित है, जिसका उदाहरण उपनिवेशवाद से नव–उपनिवेशवाद के प्रतिरोध की यात्रा में मौजूद है।

विश्व के पूंजीवादी मुल्कों ने तमाम उपनिवेशों को आर्थिक दृष्टि से पुनः गुलाम बनाने के लिए भूमण्डलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण के रूपक रचे जो नव–उपनिवेशवाद की अभिनव आक्रामकता का परिणाम है।

नव–उपनिवेशवाद आधुनिक नवाचार की समाज वैज्ञानिक शब्दावली ही नहीं, बल्कि अपने अर्थ में औपनिवेशिक शक्तियों की उस मंशा का अर्थशास्त्र भी है, जो पूँजीवादी नवीन शक्तियों के गठजोड़ से नवस्वतंत्र उपनिवशों को पुनः आर्थिक गुलामी को विवश करता है। भारत को 15 अगस्त बनाम 24 जुलाई के अर्थो में परखने पर एक बड़ी परिघटना लक्षित होती है, जहाँ 14 अगस्त की रात 12:00 बजे मिली आजादी लगभग 44 वर्षों के बाद यूरोपीय मुल्कों की औपनिवेशिक चाहत और अमेरिकी पूँजीवादी वर्चस्व के साथ घुल मिलकर 24 जुलाई 1991 ई0 को भूमण्डलीकरण के रूप में अपनी आर्थिक संप्रभुता उन हाथों में सौंप देती है, जो पूरी तरह से न तो ईमानदार थे, न स्वदेशी। नव–उपनिवेशवादी चाहत और भूमण्डलीकरण के मायावी विकास की परतों को अभय कुमार दुबे ने इस तरह खोलने की कोशिश की है,''पहली नजर में लगता है कि भूमंडलीकरण का यह पल अचानक कहीं से आया और हम पर हावी हो गया। लेकिन, असल में इस लम्हे के लिये धीरे–धीरे कई साल से राष्ट्रातीत और अतर्राष्ट्रीय स्तर पर एक जमीन पक रही थी। यह पल तब आया जब साकार राष्ट्र की वैकासिक आधुनिकता अपने वायदों को पूरा करने में पूरी तरह नाकाम हो गयी। यानी भारतीय रिजर्व बैंक के पास केवल दो हफ्ते के आयात का बिल चुकाने लायक विदेशी मुद्रा रह गयी .... यह पल तब आया जब दुनिया के पैमाने पर गैर पूँजीवादी वर्चस्व बनाने की कोशिशें करने वाला सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप का समाजवादी शिराजा बिखर गया.......। अगर 15 अगस्त राजनीतिक आजादी का दिन माना जायेगा तो 24 जुलाई को आर्थिक आजादी का प्रतीक समझा जाना चाहिए .... यहीं से विवाद की शुरूआत हुई, क्योंकि यह आर्थिक आजादी परमिट–कोटा राज खत्म करके एक ऐसा निजाम बनाने की कोशिश भर नहीं थी, जिसमें राष्ट्र और उसके नागरिकों के लाभ का आग्रह सर्वोपरि होता। इस आर्थिक आजादी का मतलब यह था कि न केवल भारतीय अर्थव्यवस्था को विश्वबाजार के साथ जुड़ते चले जाना है, वरन भारतीय वित्तमंत्री को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व व्यापार

संगठन के दफ्तर जाकर अपने कामों का हिसाब भी देना है। उसे अन्तर्राष्ट्रीय ऐजंसियों द्वारा दी गयी सनद का मोहताज रहना है।[5]

वस्तुतः पुरानी अर्थनीतियों से आजिज आ चुके लोगों ने एवं मिश्रित अर्थव्यवस्था के अप्राप्य लक्ष्यों ने देश को नयी नीतियों की ओर मोड़ा जहाँ 24 जुलाई आर्थिक आजादी के सुनहरे ख्वाब के परिवेश में अंतहीन अंधेरो और चुनौतियों को साथ लाया। प्रश्न यह भी है कि आर0बी0 आई0 के पास दो हफ्ते से अधिक आयात की विदेशी मुद्रा का न रह जाना, क्या नव–उपनिवेशवादी प्रपंचो का परिणाम न थी?विकास और उन्नति का चेहरा ओढ़कर आने वाला नव–उपनिवेशवादी आर्थिक शोषण के लिए उपनिवेशित की संस्कृति, भाषा, विचार, समाज, आदि को अपने मुताबिक ढालने की साजिश रचता है, वह पहले अभाव पैदा करता है और फिर उसे भरने के नाम पर आर्थिक दोहन की प्रक्रिया वह बाजार, विज्ञापन और विकास के स्वप्नों को हथियार बनाकर करता है। भारत के पास बची मुट्ठी पर विदेशी पूँजी उसी अभाव का और भूमण्डलीकरण को ओढ़े गये विकास और उन्नति के चेहरे का प्रतीक समझा जाना चाहिए।

स्वतंत्र घाना के प्रथम राष्ट्रपति ने अपनी 1965 ई0 में लिखी पुस्तक 'नियो कोलोनियलिज्मः द लास्ट स्टेज ऑफ इम्पीरियलिज्म' में नव–उपनिवेशवाद को सम्राज्यवाद की चरम अवस्था माना। नव–उपनिवेशवाद को घाना के राष्ट्रपति ने अतीत की यूरोपीय औपनिवेशिक ताकतों और नयी विश्व महाशक्ति संयुक्त राज्य अमेरिका की उस साझीदारी के रूप में देखा जिसमें अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाओं (विश्व बैंक तथा आई0एम0एफ0आदि) के जरिए विश्वबाजार को नियंत्रित करके बहुराष्ट्रीय निगमों का जाल फैलाकर तथा सैकड़ों किस्म की सांस्कृतिक शैक्षणिक संस्थाओं के नेटवर्क के माध्यम से औपनिवेशिक पिंजरे से आजाद हुए मुल्कों को पुनः अपने अधीन करने का लक्ष्य था। यद्यपि इस तथ्य को नव–उपनिवेशवाद की चाहत और भूमण्डलीकरण के विकास के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट किया जा चुका है। 'प्रणय कृष्ण' ने इस संपूर्ण खेल को 'नूक्रेमाह' की दृष्टि से इस प्रकार

स्पष्ट किया है ''वास्तव में नूक्रेमाह ने जिसे नव–उपनिवेशवाद कहा था। वह प्रक्रिया ही आगे चलकर भूमण्डलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण के वर्तमान दौर में विकसित हुई। भूमण्डलीकरण प्रभात पटनायक के अनुसार, अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय पूँजी के हित में राष्ट्र राज्यों को समाप्त करने की जगह उनकी संप्रभुता को खत्म करता है और एक नई विश्व व्यवस्था कायम करता है।''[6]

इस प्रकार नव–औपनिवेशिकता का रेखांकन संपूर्ण हिंदी साहित्य में बाजारवाद के विरोध, रिश्तों की टूटन, विस्थापितों की चिंता, संस्कृति संरक्षण, दलितों–आदिवासियों की बदलती प्राथमिकताओं, पावर वूमेन (बाजार में स्त्री नहीं, बाजार की स्त्री) के रहस्योद्घाटन और सत्ता की दलाल राजनीति की आलोचना के रूप में किया जा सकता है और यही प्रवृत्तियाँ मिलकर कमोबेश नयी सदी के साहित्य की केन्द्रीय संवदेना का निर्माण भी करती है, चाहे वह किसी भी विधा की हो या किसी भी विमर्श की।

नव–औपनिवेशिकता का यह मापन विमर्श के क्षेत्र में उतरकर आदिवासी जीवन के हस्तक्षेप के कारणों में इस प्रकार भी होता है कि यह साजिश सिर्फ संस्कृति को ही नहीं, बल्कि प्रकृति निर्मित उन संसाधनों पर एकाधिकार जमाने की भी है जिससे मनुष्य का दैहिक और बुनियादी विकास जुड़ा है। यह सवाल दुनिया के तेल क्षेत्रों पर कब्जा जमाने की अमेरिकी चौधराहट से लेकर विकास की शक्ल में विकसनशील देशों को शोषण के द्वीप बनाने की चालबाजी तक मौजूद है। यह बात दीगर है कि प्रकृति के सर्वाधिक संसाधन आज भी मानवीय दखल से दूर जंगलों में और संस्कृति व भाषा के शिष्टतम रूप उनके अंतःवासी आदिवासियों में मौजूद हैं। इन तत्वों पर अधिकार पाने के लिए सत्ता की दलाल राजनीतिक–संस्कृति की आलोचना 'रणेन्द्र' के उपन्यास 'ग्लोबल गॉव के देवता' में इस प्रकार हुई है–

''राष्ट्र–राज्य की हिंसा का कोई जवाब नहीं हो सकता।..... यही

एक मात्र संस्था है जिसने हिंसा को भी सांस्थानिक रूप दिया है। उसकी सेना, सशस्त्र बल सब सैद्धांतिक तौर पर हिंसा के लिए ही प्रशिक्षित है। राष्ट्र–राज्य अपने को सुरक्षित रखने के लिए इन्सानों का इन्सानों के द्वारा ही नाश कराता है।''[7]

जब सत्ता के लिए राजनीति स्वार्थ की दौड़ में भटकाव की बलि चढ़ती है तो वह राष्ट्र राज्य को पथ भ्रष्ट कर डालती है और वह लोक कल्याण की अवधारणा से भटक कर शोषण, अत्याचार और निर्ममता का अंग बन जाता है। आदिवासियों के तमाम उपन्यास नव–औपनिवेशिकता की इन प्रवृत्तियों का रेखांकन अलग–अलग रूपों में करते हैं, सभी कथानको में बहुतसी उभयनिष्ठताओं के बाद भी आदिवासियों की चिंताओं को अलग–अलग तरह से कहने की लालसा सामने आती है। यद्यपि आदिवासी उपन्यास लेखन की दृष्टि से प्रेमचन्द (गोदान) और रेणु (मैला ऑचल) के उपन्यासों से ही सामान्य लय–तान प्राप्त प्राप्त करने लगते है लेकिन रूपतिल्ली की कथा, पठार पर कोहरा, पॉव तले की दूब और ग्लोबल गाँव के देवता आदि उपन्यास इस लयतान को स्पष्ट स्वर, अंसंतोष की भर्राहट और बदलाव के शोर तक ले जाते है। तथापि यह उपन्यास सामान्य तौर पर आदिवासी जीवन, संस्कृति और उनकी बेचारगी का दस्तावेज लगते है। लेकिन इन कथानक रूढ़ियों के पार उपन्यास नव–औपनिवेशिकता की भूमण्डलीकृत बाजारवादी, वैकासिक विनाशवादी, राष्ट्र–राज्य के झूठे सच, स्त्री अस्मिता को विकृत करने की नीतियों का रेखांकन भी करते है।

रणेन्द्र ने बाजारवादी विकास और पूंजी के प्रपंच को ग्लोबल गॉव के देवता में इसी चिंता के साथ उभारा है, जहाँ पूरी कोमलता, मानवीयता और निश्छलता के साथ मौजूद असुर जनजाति बाजारवादी शक्तियों से विघटित होने लगती है''इस बार कथा– कहानी वाले सिंग बोगा ने नहीं, टाटा जैसी कंपनियों ने हमारा नाश किया है। उनकी फैक्टरियों में बना लोहा, कुदाल, खुरपी, गैता, खंती सूदूर हाटों तक पहुँच गए। हमारे गलाए

लोहे के औजारों की पूछ खत्म हो गयी। लोहा गलाने के हजारों –हजार साल का हमारा हुनर धीरे–धीरे खत्म हो गया।''[8] यह प्रसंग न सिर्फ आदिवासियों की संस्कृति बल्कि उनके रोजगार और आजीविका के मसलो पर भी सवाल खड़ा करता है।' विकास की यह तथाकथित लहर किस रूप में आदिवासी समाज के मनोविज्ञान को बदल रही है और लोभ लालच की स्थापित प्रवृत्तियाँ नये रूपों मे सामने आ रही है इसका उद्घाटन 'प्रतिभा राय' का उपन्यास 'आदिभूमि' बड़ी बारीकी से करता है। आदिभूमि उपन्यास प्रतिभा राय के 1985–93 के बीच आदिवासी समाज के मध्य गुजरे प्रवास का सजीव दस्तावेज है, जिसका मूल्यांकन करते हुए रोहिणी अग्रवाल ने लिखा है ''विकास की लहर के साथ बड़े पहाड़ पर पहुँचे डब्बू (रूपए) के प्रति उनके मन मे लोभ पनपा है और साथ–ही साथ बात–बात पर हाथ फैलाकर मांगने की निर्लज्जता भी।''[9]

नव–औपनिवेशिकता ने आदिवासी समाज के मंथन और आत्म विकास के मूल्यों पर भी गहरा प्रभाव छोड़ा है। आदिवासी को अपनी माटी के कुल्हड़ से अंसतोष है और चिकने सुडौल प्यालों की चाह है। 'महाश्वेता देवी' के बांग्ला उपन्यास 'अग्निगर्भ' में संथालों की शिकायत तीखे स्वर में दर्ज है– ''तुम लोग पियाला में चाह पीते मैं मिट्टी के कुल्हड़ में।''[10] यह बदलती स्थितियों और बनती नयी प्राथमिकओं का आदिवासी मनोशास्त्र है। अमेरिकी वर्चस्ववादी, औपनिवेशिकता के इस नये मायाजाल ने आदिवासियों मे नयी प्राथमिकताओं को यहाँ तक गढ़ा है कि वे अपने पुनर्वास को अमेरिकी पुनर्वसित जन जातियों की भॉति ही तौलते है, (यद्यपि यह पुनर्वास पहले नृसंशता से उन्हें उजाड़ने और मारने के बाद ही होता है) ''बसाई की हालत तथा अमेरिका के आदिवासी अधिवासी नवाजों या दूसरे रेड इंडियनों की तरह होगी? कंजर्व; संरक्षण म्यूजियम; आओं, देखो, संरक्षित बस्तियो में ये मुंडा है, ये संथाल है, ये मरिया है।''[11] पुनर्वास की पीड़ा क्या होती है? और विकास की कीमत यदि रिश्तो की टूटन और विस्थापन हो तो किसे तर्जीह देनी चाहिए, इन प्रश्नों को संवेदनशीलता के

साथ महसूस करने की आवश्यता है।

विकास और 'इन्फ्रास्ट्क्चर' के आवरण में असलियत की लिजलिजाहट से भरा यथार्थ क्या है, इसका नग्न रूपायन आदिवासी उपन्यास करते है, क्या यह विकास आदिवासियों के लिये है, या कि देशवासियों के लिए, या कि उन औपनिवेशिक शक्तियों के पक्ष में जो नव–उपनिवेशित राष्ट्र को केवल सैलानी की नियत से ही देखना चाहते है और उनके प्राकृतिक अधिकारों को भी पूँजी की जुए मे खेलना चाहते है। इन सभी पाखंडो को राकेश कुमार सिंह, की लेखनी, पठार के कोहरे के पास जाकर देखती है– ''असल में यातायात के लिए ऐसी सड़के निर्मित ही नहीं होती, यदि झारखण्ड की जादुई जमीन के गर्भ में अकूत संपदा और जमीन के ऊपर धन ही धन बिखरा होता– खनिज अयस्क, कोयला और बेशकीमती वनोपज के रूप में।''[12] इसी श्रृँखला में 'श्री प्रकाश मिश्र' का उपन्यास 'रूपतिल्ली की कथा' 20वीं सदी और ब्रिटिश साम्राज्य के परिवेश में मेघालय की खासी जनजाति का समय और समाज व्यक्त करती है। किंतु संस्कृति बनाम नव–औपनिवेशिकता के वाचन के संदर्भ में इसके रूपक स्पष्ट होते है। परंपराओं के प्रति खासी समाज के मोह और उनके आपसी संघर्ष वर्तमान साम्प्रदायिक संघर्षों से बचने और भारतीयता के विकास में रमने की दरकार करते है। संस्कृति (भारतीयता) का संरक्षण आवश्यक है, क्योकि संस्कृति और रूढ़ियों में अंतर है जैसे ऐतिहासिकता और पौराणिकता में। इन उपन्यासों में इन सभी के साथ आदिवासी स्त्री के जीवन में बाजारवादी प्रभावों का भी मूल्यांकन होता है। 'रूपतिल्ली की कथा' में स्त्रियों की दोयम स्थिति का चित्र 'उन्हे तो जन्म के साथ ही 'दाव और उस्तार' (टोकरी ढोने की रस्सी) के साथ बांध दिया जाता है– श्रम और भूमिकाओं के सुनिश्चित निर्धारण के सच।'[13] इस प्रकार दिखाया जाता है। यह चित्र आदिवासी स्त्रियों के पारंपरिक जीवन का ही नहीं, बल्कि बाजारवाद, भूमण्डलीकरण और नव–औपनिवेशिकता की दस्तक में जी रही उस औरत का भी है जो मात्र श्रमिक की ही भूमिका तक है। श्रम के यह रूप

अलग–अलग स्तरों पर अलग–अलग जरूर है। कुल मिलाकर आदिवासी जीवन के यह तमाम उपन्यास अपने समुदायों की घड़कनों, तड़पनों और दरकनों को पूरी गहराई के साथ परोसते है। उन्हीं गहराईयों में नव–औपनिवेशिक ध्वंस की चटखने दिखाई देती है जिनमें 'आदिवासी' पदधारी मनुष्य घिसटने को विवश है।

किन्तु इन सबके बावजूद यह साहित्य अंधेरे के पार रोशनी को देखने का साहस करता है। यह हिम्मत न तो रोमानी है न बचकानी, बल्कि यह समाधान के लिए प्रतिरोध की ऊर्जा और संजीवनी है। 'पाँव तले की दूब', पठार पर कोहरा का ही प्रतीकात्मक संस्करण है।[14] जहाँ आशावाद की सुबह ''मैं मर गया तो बाकी पहाड़ मेरे बेटे काटेगें, वे भी मर गए तो बेटों के बेटे। एक न एक दिन पहाड़ खत्म होना ही है''[15] के रूप में होती है।

इस तरह से आदिवासी उपन्यास भ्रष्टाचार की अकुलाहटों का आख्यान हैं जो आदिवासी क्षेत्रों में गैर आदिवासी महाजन भूपति और सभ्य समाज के राजनेता, ब्यूरोक्रेट और पूँजीपति की आपसी साठ–गाँठ पर रोशनी डालते है। जो दुनिया की नजरो में उनके बर्बर, असभ्य और हिंसक विशेषीकरण की रूढियों को तोड़ते है, जो विकास की आँधी में उनकी छिनती निजता, आजीविका और स्थानिकता का दर्द बयाँ करते है, जो कार्पोरेटी रोजगार के बंद दरवाजों पर दस्तक देते हुए उनकी साकलें खटखटाते है। वस्तुतः उनकी केन्द्रीय संवेदना आदिवासी के संरक्षण में मनुष्यता का बचाव है, और उसके विनाश में खड़ी हर शक्ति का प्रतिरोध है, फिर चाहे वह नव–स्वदेशवादी हो या फिर नव–उपनिवेशवादी..........!

संदर्भ –

1. राजेन्द्र यादव के विश्लेषण ये यह तथ्य उभरता है – '' भारतीय मानस की ये सारी विसंगतियाँ और अंतर्विरोध चंद्रकांत में भी है– काफ़ी संश्लिष्ट और उलझे हुए। एक ओर तो प्रतिरोध की इसी जटिल, सूक्ष्म और द्वंद्वात्मक अमूर्त प्रक्रिया ने तिलिस्म को जन्म दिया तो दूसरी और ऐयारी में विरोध ओर स्वीकार का दुहरा रूप भी

उभरने लगा।'' (राजेन्द्र यादव 'दयनीय महानता की दिलचस्प दास्तानः चंद्रकांता', शीर्षक लेख, आलोचना, अप्रैल–जून 1980, पृ0 95)

2. मैनेजर पाण्डेय के शब्दों में – ''.... विभाजन की की पूरी भयावहता उसकी जटिलता और समग्रता को हिंदी के अनेक उपन्यासकारों ने महत्वपूर्ण दम से अभिव्यक्त किया है.... मुझे ऐसा लगता है कि यह कवियों और कथाकारों की मानसिकता से अधिक कविता और कथा साहित्य के स्वभाव की भिन्नता से जुड़ी सच्चाई है।'' (मैनेजर पाण्डेय, उपन्यास और यथार्थः एक टिप्पणी हंस, जनवरी 1999, पृ0 15)
3. मैनेजर पाण्डेयः 'उपन्यास का समाजशास्त्र' शीर्षक अध्याय, अध्ययन, अनभैसांचा पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली 2002, पृ0 48.
4. रमणिका गुप्ता, आदिवासी लेखनः एक उभरती चेतना, शीर्षक अध्याय, आदिवासी साहित्य विमर्श (पुस्तक), संपादकः गंगा सहाय मीणा, प्रकाशनः अनामिका पब्लिशर्स एवं डिस्ट्री ब्यूटर्स (प्रा0 लिमिटेड, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली (पृ0 37)
5. अभय कुमार दुबे, साकार राष्ट्र निराकार यात्रा, पुस्तक भारत का भूमण्डलीकरण, वाणी प्रकाशन दिल्ली (पृ0 23,24)
6. प्रणय कृष्ण; 'नव – उपनिवेशवाद और भूमण्डलीकरण का विरोध, 'शीर्षक, 'उतर औपनिवेशिकता के स्रोत; अध्याय, पुस्तकः उत्तर औपनिवेशिकता के स्रोत और हिंदी साहित्य, हिन्दी परिषद प्रकाशन, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की ओर से (पृ0 58).
7. रणेन्द्र, ग्लोबल गांव के देवता, (पृष्ठ 92)
8. रणेन्द्र : ग्लोबल गांव के देवता (पृ0 83)
9. आदिवासी साहित्यविमर्श (पृ0 74)
10. अग्निगर्भ (पृ0 34)

11. अग्निगर्भ (पृ0 124)
12. पठार पर कोहरा, (पृ0 87)
13. रूपतिल्ली की कथा (पृ0 38)
14. रोहिणी अग्रवाल, शीर्षक, समकालीन हिंदी उपन्यास और दिकू समाज का आदिवासी चिंतन, पुस्तक आदिवासी साहित्य विमर्श, संपादकः गंगा सहाय मीणा ''पठार पर कोहरा (द्वितीय संस्करण 2005) और पॉव तले की दूब (प्रथम संस्करण 2005) – बस, दोनों जगहों, पात्रों और लोकेल के नाम बदले भर हैं। तब नये टी0पी0सी, डोकरी के जनरल मैनेजर सुदीप्त/सुदामा प्रसाद का चोला पहन लेते है, अध्यापक संजीव गजली ठारी बन जाता है, मेझिया गाँव।''
15. पाँव तले की दूब, (पृ0 80)